दूर के रिश्तेदार

प्रफुल्ल कोलख्यान

यह मेरे बचपन की घटना है। मैं अपने बहिनोई के साथ हजारीबाग सरकारी बस पड़ाव पर खड़ा था। तभी एक सज्जन आये और मेरे बहिनोई से बड़े तपाके से मिले। वे सज्जन निश्चित ही उनके मित्र रहे होंगे। और बहुत दिनों के बाद ही उनकी मुलाकात भी हुई होगी। मेरा आज भी मानना है कि जितने तपाके से बिछड़े यार मिलते हैं कोई और किसी से क्या मिलेगा। यह सचमुच आज दुर्लभ दृश्य तो है मगर अलभ्य नहीं। तभी उनके मित्र की नजर मुझ पर पड़ी। उन्होंने मेरे बारे में जिज्ञासा व्यक्त की तो साला कहकर मेरा परिचय कराया गया। साला कहकर परिचय करवाना मुझे बहुत बुरा लगा था। लेकिन उस समय मेरे परेशान होने का कारण कुछ और था। मुझे दूर के रिश्ते में साला बताया गया था। मेरे शिशु-मन में यह सवाल तीर की तरह चुभ गया था तब कि क्या रिश्तेदार भी दूर और नजदीक के होते हैं या हो सकते हैं? फिर उस बहिनोई महाशय को मैं अपने मन के बहुत करीब का मानता था। तब मन बहुत ही उन्मथित हुआ था। प्रश्न आज भी उत्तर माँग रहा है कि आखिर कौन-से रिश्तेदार दूर के होते हैं और कौन-से रिश्तेदार नजदीक के होते हैं? कुछ रिश्ते हमें जन्म के साथ ही मिल जाया करते हैं तो कुछ को हम अपनी जरूरत, इच्छा, रूचि, समय और सुविधा के अनुसार बनाते हैं। जाहिर है ये बनाये गये रिश्ते जरूरत, इच्छा, रूचि, समय और सुविधा के अनुसार बनते ही नहीं बल्कि बिगड़ते और बदलते भी रहते हैं। जन्म के साथ मिले रिश्तों की नामावली में बदलाव की गुंजाइश नहीं होती है। जन्म के साथ मिले रिश्तों का अस्तित्व आजीवन बना रहता है। इन रिश्तों को भी लेकिन जीवित और मृत रिश्तों की श्रेणी में रखा जा सकता है। सृष्टि-चक्र में सबसे निकट का संबंध माँ और उसकी संतान के बीच का होता है। लेकिन समय के बदलते मिजाज ने इन्हें भी कम नहीं तोड़ा-मरोड़ा और बदला है। पुत्र कुपुत्र हो सकता है, लेकिन माता कुमाता नहीं हो सकती जैसी मान्यताएँ आज अर्थहीन हो चुकी हैं। आज तो माता भी कुमाता हो रही हैं! प्रेमचंद की कहानी 'बूढ़ी काकी' और भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' रिश्तों के रेशों में आ रहे फर्क की ओर गंभीर संवेदनात्मक संकेत करती हैं। बाजार में होड़ है तन को कोमल बनानेवाली वस्तुओं के प्रसार की। इस होड़ में पड़कर मन कितना कठोर बन रहा है इसकी परवाह किसे है। कोमल तन और कठोर मन की जीवन-स्थितियों को साधने की होड़ में पड़ी सभ्यता को रिश्तों की नजाकत की परवाह कहाँ तक हो सकती है। यह सिर्फ आबादी के बढ़ते दबाव से उत्पन्न वितृष्णा का नतीजा नहीं हो सकता कि मातृत्व की

गरिमा से बड़ा क्वाँरेपन का ग्लेमर हो गया है। इस क्वाँरेपन को थोड़ा और खोलें तो यह वय:संधि की उस सीमा-रेखा की ओर संकेत करता मिलेगा जहाँ नायिका के आस-पास असूर्यंपश्या और अनाघ्रात जैसे स्वप्न-प्रसूत विशेषणों की सार्थकता विश्राम करती मिलेगी। अर्थात, भोग के लिए पुरुष आकांक्षित पवित्रता के आश्वासन का ही एक और नाम है क्वाँवरपन। मातृत्व की गरिमा और महिमा के तब गाये जानेवाले प्रशंशा-गीतों के गूढ़ार्थ में पुरुष आकांक्षा के सारांश की अनिवार्य उपस्थिति भी कम विचारणीय नहीं है। सामान्य-जन और वीर-पुरूष का अंतर तो तब भी कोई कम प्रभावी नहीं था। इस प्रकार की सामान्यता और वीरता के परिप्रेक्ष्य को ध्यान में नहीं रखने से तो संबंधों के मूलाधार को तैयार और तय करनेवाला उन दिनों का भाव-प्रसंग भी शायद ही समझ में आये। एक ओर वसुंधरा को जननी कहा गया तो दूसरी ओर वीरों के लिए भोग्या भी कहा गया -- वीर भोग्या वसुंधरा! वीर भोग्या वसुंधरा से ही स्पष्ट हो जाता है कि वीरता को साबित और स्थापित करने के लिए क्यों तब इतने संघर्ष हुआ करते थे। जाहिर है, वीरता का संबंध भोग से ही होता है, त्याग से नहीं। क्रूरता का भी वीरता से निकट का संबंध होता है। इस प्रकार वीरता, क्रूरता और भोग का परम निहितार्थ संबंध की सामाजिक और सांस्कृतिक नाभिकीय-केंद्रिकता की सृष्टि करता है।

महादेवी वर्मा ने अपने एक निबंध में ठीक ही लिखा है कि आज के वैज्ञानिक युग में अगर कोई दूरी है तो दिल की दूरी है। एक भिन्न प्रसंग से उन्होंने स्पष्ट करना चाहा था कि विज्ञान के विकास के साथ आवागमन और संचार संसाधनों की प्रभूत उपलब्धता के कारण मनुष्य चाँद पर तक जाने में सक्षम हो गया है। अब अगर कोई दूरी फिर भी बचती है, तो वह दिल की ही दूरी हो सकती है। आज दिल की दूरी बढ़ानेवाली तमाम परिस्थितियाँ एक साथ सक्रिय हैं। आज तो सारे रिश्ते ही दूर के हो गये हैं। अब तो मेरी जिंदगी में पत्र लिखने का चलन लगभग समाप्त ही हो गया है। लेकिन जब यह चलन में था तब कि बात है कि अपने एक मित्र को लिखे पत्र का समापन 'भाई ही' लिखकर करने जा रहा था। तभी यह सोचकर सहम गया कि पता नहीं अपने भाई से उसका इस समय कैसा रिश्ता हो और मेरे इस भाई ही से उसके मन में कौन-सा भाव उठे। मन में एक प्रकार की खीझ भी उठी कि बरसों से तो 'भाई ही' शब्द का कर्मकांडी इस्तेमाल कर रहा हूँ, कभी तो इसके अर्थ की व्यापकता या उसके औचित्य पर इतना अधिक मनस्थ नहीं हुआ कि इसके इस्तेमाल में इस तरह की हिचक पैदा हो जाये। तथापि, कोई अन्य शब्द जो मेरे मन में व्याप रही उस समय की आत्मीयता का अर्थ उठा सके मेरे सहमे हुए मन को नहीं मिला। इस दूरी और नजदीकी की मान्यता में समय के साथ-साथ क्या-क्या परिवर्तन घटित हुआ है या तीस साल पहले जो मान्यता थी इस मुत्तलिक वही आज भी प्रासंगिक है? प्रामाणिक और शास्त्रीय उत्तर तो कोई समाजशास्त्री ही दे सकता है। हम जैसे लोगों की कुल जमा पूँजी तो संवेदना ही हुआ

करती है जिसकी आज कोई खास इज्जत तो है नहीं। एक फालतू-सी चीज। बेदाम की। कई-कई बार लोगों ने संवेदना के भी नकली होने की बात उठायी। इतनी सफलता ऐसे तत्त्वों को जरूर मिली कि एक की संवेदना अपर की संवेदना से इतनी कट गयी कि सचमुच उसके किसी काम की नहीं रही। और आदमी अकेला पड़ता चला गया।

शुर्रियों की लिपि दर्द की भाषा पढ़ने की कोई तरकीब होती या रिश्तों की दूरी मापनेवाला कोई फीता होता तो कोई बड़ी आसानी से नाप ले सकता कि मैं और मेरे जैसे बहुत सारे बेटे अपने-अपने माँ-बाप के कितने दूर के रिश्ते में बेटा लगते हैं। इस विकास का कोई क्या करे जिसमें रिश्ते की कोई पैमाइश ही न बचे!

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान